समन्तभद्र भारती

परमानन्द जैन शास्त्री

आचार्य समन्तभद्र विक्रमकी तीसरी शताब्दी के प्रसिद्ध तार्किक विद्वान थे। वे असाधारण विद्या के धनी थे, और उनमें कवित्व एवं वाग्मित्वादि शक्तियाँ विकासकी चरमावस्था प्राप्त हो गई थीं। समन्तभद्र का जन्म दक्षिण भारत में हुआ था। वे एक क्षत्रिय राजपुत्र थे उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा थे। समन्तभद्रका जन्म नाम शान्तिवर्मा था। उन्होंने कहां और किसके द्वारा शिक्षा पाई, इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी कृतियों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनको–जैन धर्म में बड़ी श्रद्धा थी और उनका उसके प्रति भारी अनुराग था। वे उसका प्रचार करना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने राज्यवैभव के मोह का परित्याग कर गुरु से जैन दीक्षा ले ली। और तपश्चरण द्वारा आत्मशक्ति को बढ़ाया। समन्तभद्रका मुनि जीवन महान् तपस्वी का जीवन था। वे अहिंसादि पंच महाव्रतों का पालन करते थे, और ईर्या-भाषा-एषणादि पंच समितियों द्वारा उन्हें पुष्ट करते थे। पंच इन्द्रियों के निग्रह में सदा तत्पर और मन-वचन-काय रूप गुप्तित्रय के पालन में धीर, और सामायिकादि षडावश्यक क्रियाओं के अनुष्ठान में सदा सावधान रहते थे। और इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि मेरी दैनिक चर्या या कषाय भाव के उदय से कभी किसी जीवको कष्ट न पहुँच जाय। अथवा प्रमादवश कोई बाधा न उत्पन्न हो जाय। इस कारण वे दिन में पदमर्दित मार्ग से चलते थे, किन्तु चलते समय अपनी दृष्टि को इधर-उधर नहीं घुमाते थे। किन्तु उनकी दृष्टि सदा मार्ग शोधन में अग्रसर रहती थी। वे रात्रि में गमन नहीं करते थे। और निद्रावस्था में भी वे इतनी सावधानी रखते थे कि जब कभी कर्वट बदलना ही आवश्यक होता तो पीछी से परिमार्जित करके ही बदलते थे। तथा पीछी, कमंडलु और पुस्तकादि वस्तु को देख-भाल कर उठाते रखते थे, एवं मल-मूत्रादि भी प्राशुक भूमि में क्षेपण करते थे। वे उपसर्ग-परीषहों को साम्य भावसे सहते हुए भी कभी चित्त में उद्विग्न या खेदित नहीं होते थे। उनका भाषण हित-मित और प्रिय होता था। वे भ्रामरी वृत्ति से अनोदर आहार लेते थे। पर उसे जीवन–यात्रा का मात्र अवलम्बन (सहारा) समझते थे। और ज्ञान, ध्यान एवं संयम की वृद्धि और शारीरिक स्थिति का सहायक मानते थे। स्वाद के लिये उन्होंने कभी आहार नहीं लिया। इस तरह वे मूलाचार (आचारांग) में प्रतिपादित चर्याके अनुसार व्रतोंका अनुष्ठान करते थे। अट्ठाईस मूलगुणों और उत्तर गुणोंका पालन करते हुए उनकी विराधना न हो, उसके प्रति सदा जागरुक रहते थे।

इस तरह मुनिचर्या का निर्दोष पालन करते हुए भी कर्मोदय वश उन्हें भस्मक व्याधि हो गई। उसके होनेपर भी वे कभी अपनी चर्या से चलायमान नहीं हुए। जब जठराग्नि की तीव्रता भोजन का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तिरस्कार करती हुई उसे क्षणमात्र में भस्म करने लगी, क्योंकि वह भोजन मर्यादित और नीरस होता था उससे जठराग्नि की तृप्ति होना संभव नहीं था, उसके लिये तो गुरु स्निग्ध, शीतल और मधुर अन्न-पान जब तक यथेष्ट परिमाण में न मिलें, तो वह जठराग्नि शरीर के रक्त-मांसादि धातुओं को भस्म कर देती है। शरीर में दौर्बल्य हो जाता है, तृषा, दाह और मूर्च्छादिक अन्य अनेक बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं। बढ़ती हुई क्षुधा के कारण उन्हें असह्य वेदना होने लगी, '**क्षुधासमानास्ति शरीरवेदना**' की नीति चरितार्थ हो रही थी।

समन्तभद्र ने जब यह अनुभव किया कि रोग इस तरह शान्त नहीं होता, किन्तु दुर्बलता निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। अतः मुनिपद को स्थिर रखते हुए इस रोग का प्रतीकार होना संभव नहीं है। दुर्बलता के कारण जब आवश्यक क्रियाओं में भी बाधा पड़ने लगी, तब उन्होंने गुरुजी से भस्मक व्याधि का उल्लेख करते हुए निवेदन किया कि भगवन्! इस रोग के रहते हुए निर्दोष चर्या का पालन करना अब अशक्य हो गया है। अतः अब मुझे आप समाधि मरण की आज्ञा दीजिये। परन्तु गुरु बड़े विद्वान, तपस्वी, धीर-वीर एवं साहसी थे, और समन्तभद्र की जीवनचर्या से अच्छी तरह परिचित थे, निमित्तज्ञानी थे, और यह भी जानते थे कि समन्तभद्र अल्पायु नहीं हैं। और भविष्य में इनसे जैनधर्म की विशेष प्रभावना होने की संभावना है। ऐसा सोच कर उन्होंने समन्तभद्र को आदेश दिया कि समन्तभद्र, तुम समाधिमरण के सर्वथा अयोग्य हो। तुम पहले इस वेष को छोड़कर भस्मक व्याधि को शान्त करो। जब यह व्याधि शान्त हो जाय, तब प्रायश्चित्त लेकर मुनिपद ले लेना। समन्तभद्र तुम्हारे द्वारा जैनधर्म का अच्छा प्रचार और प्रसार होगा। समन्तभद्र ने गुरु आज्ञा से मुनिपद तो छोड़ दिया और अनेक वेषों को धारण कर भस्मक व्याधि का निराकरण किया। जब व्याधि शान्त हो गई तब वे प्रायश्चित्त लेकर मुनिपद में स्थित हो गए। उन्होंने वीरशासन का उद्योत करने के लिये विविध देशों में विहार किया। स्वामी समन्तभद्र के असाधारण गुणों का प्रभाव तथा लोकहित की भावना से धर्मप्रचार के लिये देशाटन का शिलालेखादि से कितना ही हाल ज्ञात होता है। उससे यह भी जान पड़ता है कि वे जहां जाते थे, वहां के विद्वान उनकी वाद घोषणाओं और उनके तात्त्विक भाषणों को चुपचाप सुन लेते थे, पर उनका विरोध नहीं करते थे, इससे उनके महान् व्यक्तित्व का कितना ही दिग्दर्शन हो जाता है। जिन-जिन स्थानों में उन्होंने वाद किया उनका उल्लेख श्रवण बेलगोल के शिलालेख के निम्न पद्य में पाया जाता है:—

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता।
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

आचार्य समन्तभद्र ने करहाटक पहुंचने से पहले जिन देशों तथा नगरों में वाद के लिये विहार किया था उनमें पाटलिपुत्र (पटना) मालवा, सिंधु, ठक्क(पंजाब)देश, काञ्चीपुर (कांजीवरम्)विदिशा (भिलसा) ये प्रधानदेश थे, जहां उन्हों ने वाद की भेरी बजाई थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काञ्चां नग्नाटकोहं मल-मलिनतनु लाम्बुसा पाण्डुपिण्डः ।
पुण्ड्रोंड्रे शाक्यभिक्षु दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरागस्तपस्वी,
राजन् यस्यास्तिशक्तिः स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी ।।

आचार्य समन्त भद्र जहां जिस वेश में पहुंचे उसका उल्लेख इस पद्य में किया गया है। साथ में यह भी व्यक्त किया गया है कि हे राजन्! मैं जैन निर्ग्रन्थवादी हूं जिस की शक्ति हो सामने आकर वाद करें।

आचार्य समन्तभद्र के वचनों की यह खास विशेषता थी कि उनके वचन स्याद्वाद न्याय की तुला में तुले हुए होते थे। चूं कि वे स्वयं परीक्षा प्रधानी थे। आचार्य विद्यानन्द ने उन्हें 'परीक्षेक्षण'—परीक्षानेत्र से सब को देखनेवाला—लिखा है। वे दूसरों को परीक्षा प्रधानी बनने का उपदेश देते थे। उनकी वाणी का यह जबर्दस्त प्रभाव था कि कठोर भाषण करने वाले भी उनके समक्ष मृदु भाषी बन जाते थे।

स्वामी समन्तभद्र के असाधारण व्यक्तित्व को व्यक्त करने वाले पद्य में कुछ विशेषण ऐसे उपलब्ध होते हैं जिन का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। वह पद्य[1] इस प्रकार है—

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तन्त्रिकोऽहं ।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलाया मिलायाम्,
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं ॥ ''

इस पद्यके सभी विशेषण महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु उनमें आज्ञासिद्ध और सिद्ध सारस्वत ये दो विशेषण समन्तभद्र के असाधारण व्यक्तित्व के द्योतक हैं। वे स्वयं राजा को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि—हे राजन्! मैं इस समुद्रवलया पृथ्वी पर आज्ञा सिद्ध हूं—जो आदेश देता हूं वही होता है। और अधिक क्या कहूं? मैं सिद्ध सारस्वत हूं—सरस्वती मुझे सिद्ध है। सरस्वती की सिद्धि में ही समन्तभद्र की वादशक्ति का रहस्य सन्निहित है।

स्वामी समन्तभद्र को 'आद्यस्तुतिकार' होने का गौरव भी प्राप्त है। श्वेताम्बरीय आचार्य मलयागिरि ने 'आवश्यक सूत्र' की टीका में **'आद्य स्तुति कारोप्याह'**—वाक्य के साथ स्वयंभूस्तोत्र का 'नयास्तव स्यात्पद-सत्यलाञ्छन (ञ्छिता) इमे' नाम का श्लोक उद्धृत किया है।

आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध में उत्तरवर्ती आचार्यों, कवियों, विद्वानों और शिलालेखों में उनके यश का खुला गान किया गया है।

---

१. देखो, पंचायती मन्दिर दिल्ली का जीर्ण-शीर्ण गुच्छक।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य जिनसेन ने कवियों को उत्पन्न करनेवाला विधाता (ब्रह्मा) बतलाया है, और लिखा है कि उनके वचनरूपी वज्रपात से कुमतिरूपी पर्वत खण्ड–खण्ड हो गए थे ।[1]

कविवादीभसिंहसूरि ने समन्तभद्र मुनीश्वर का जयघोष करते हुए उन्हें सरस्वती की स्वच्छन्द विहारभूमि बतलाया है । और लिखा है कि उनके वचनरूपी वज्रनिपात से प्रतिपक्षी सिद्धान्तरूप पर्वतों की चिटियां खण्ड खण्ड हो गई थीं ।[2] समन्तभद्र के आगे प्रतिपक्षी सिद्धान्तों का कोई गौरव नहीं रह गया था । आचार्य जिनसेन ने समन्तभद्र के वचनों को वीर भगवान् के वचनों के समान बतलाया है ।[3]

शक संवत् १०५९ के एक शिलालेख में तो यहां तक लिखा है कि स्वामी समन्तभद्र वर्द्धमान स्वामी के तीर्थ की सहस्रगुणी वृद्धि करते हुए उदय को प्राप्त हुए[4] ।

वीरनन्दी आचार्य ने 'चन्द्रप्रभचरित्र में लिखा है कि गुणों से–सूत के धागों से–गूँफी गई निर्मल मोतियों से युक्त और उत्तम पुरुषों के कण्ठ का विभूषण बनी हुई हार यष्टि को—श्रेष्ठ मोतियों की माला को—प्राप्त कर लेना उतना कठिन नहीं है जितना कठिन समन्तभद्र की भारती–वाणी को पा लेना कठिन है; क्योंकि वह वाणी निर्मलवृत्त (चरित्र) रूपी मुक्ताफलों से युक्त है और बड़े बड़े मुनिपुंगवों–आचार्यों ने अपने कण्ठ का आभूषण बनाया है, जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट है:—

" गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टि परमैव दुर्लभा समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥ "

इस तरह समन्तभद्र की वाणी का जिन्हों ने हृदयंगम किया है वे उसकी गंभीरता और गुरुता से वाकिफ हैं । आचार्य समन्तभद्र की भारती (वाणी) कितनी महत्त्वपूर्ण है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं है । स्वामी समन्तभद्र ने अपनी लोकोपकारिणी वाणी से जैन मार्ग को सब ओरसे कल्याणकारी बनाने का प्रयत्न किया है[5] । जिन्होंने उनकी भारती का अध्ययन और मनन किया है वे उसके महत्त्व से परिचित हैं । उनकी वाणी में उपेय और उपाय दोनों तत्त्वों का कथन अंकित है, जो पूर्वपक्ष का निराकरण करने में समर्थ है, जिसमें सप्त भंगों सप्त नयों द्वारा जीवादि तत्त्वों का परिज्ञान कराया गया है । और जिसमें आगमद्वारा वस्तु धर्मों को सिद्ध किया गया है । जिसके प्रभाव से पात्रकेशरी जैसे ब्राह्मण विद्वान जैन धर्म की

---

१. नमः समन्तभद्राय महते कवि वेधसे ।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयः ॥

२. सरस्वती–स्वैर–विहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्ति वाग्वज्र–निपात–पाटित–प्रतिपराद्धान्त महीध्रकोटयः ॥ —गद्य चिन्तामणि

३. 'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृंभते ।' —हरिवंशपुराण

४. देखो, वेलूर तालुके का शिलालेख नं. १७, जो सौम्यनाथ मन्दिर की छत के एक पत्थर पर उत्कीर्ण है । —स्वामी समन्तभद्र, पृ. ४६

५. जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः । —मल्लिषेणप्रशस्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरण में आकर प्रभावशाली आचार्य बने। जिस पर अकलंक और विद्यानन्द जैसे मुनिपुंगवों के द्वारा भाष्य और टीका ग्रंथ रचे गये हैं वह समन्तभद्र वाणी सभी के द्वारा अभिनन्दनीय, वन्दनीय और स्मरणीय है।

इस समय स्वामी समन्तभद्र की ५ कृतियां उपलब्ध हैं। देवागम (आप्तमीमांसा) स्वयंभूस्तोत्र, मुक्त्यनुशासन, जिनशतक (स्तुतिविद्या), रत्नकरण्ड श्रावकाचार (समीचीन धर्मशास्त्र)। इनके अतिरिक्त 'जीवसिद्धि' नामकी कृति का उल्लेख तो मिलता है?[1] पर वह अब तक कहीं उपलब्ध नहीं हुई। यहां इन कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

देवागम—जिस तरह आदिनाथ स्तोत्र 'भक्तामर' शब्दों से प्रारंभ होने के कारण भक्तामर कहा जाता है। उसी तरह यह ग्रन्थ भी 'देवागम' शब्दों से प्रारंभ होने के कारण 'देवागम' कहा जाने लगा। इसका दूसरा नाम 'आप्तमीमांसा' है। ग्रन्थ में दश परिच्छेद और ११४ कारिकाएं हैं। ग्रन्थकार ने वीर जिनकी परीक्षा कर उन्हें सर्वज्ञ और आप्त बतलाया, तथा 'युक्तिशास्त्रविरोधिवाक् हेतु के द्वारा आप्त की परीक्षा की गई है–जिसके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी पाये गए उन्हें ही आप्त बतलाया। और जिनके वचन युक्ति और शास्त्र के विरोधी हैं, उन्हें आप्त नहीं बतलाया। क्योंकि उनके वचन बाधित हैं। साथ में यह भी बतलाया कि हे भगवान्! आपके शासनामृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्त वादी हैं, वे आप्त नहीं हैं, किन्तु आप्त के अभिमान से दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है[2]। इस कारण भगवान आपही निर्दोष हैं। पश्चात् उन एकान्त बादों की भावैकान्त अभावैकान्त, उभयैकान्त, अवाच्यतैकान्त, द्वैतैकान्त, अद्वैतैकान्त भेदैकान्त–अभेदैकान्त, प्रथकत्वैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, क्षणिकैकान्त, दैवैकान्त, पारुषैकान्त हेतुवाद, आगमवाद आदि की—समीक्षा की गई है। और बतलाया है कि इन एकान्तों के कारण लोक, परलोक, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, दैव, पुरुषार्थ आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती। इनकी सिद्धि स्याद्वाद से होती है। स्याद्वाद का कथन करते हुए बतलाया है कि स्याद्वाद के बिना हेय, उपादेय तत्त्वों की व्यवस्था भी नहीं बनती। क्योंकि स्याद्वाद सप्तभंग और नयों की विवक्षा लिये रहता है। आचार्य महोदय ने इन एकान्त वादियों को—जो वस्तु को सर्वथा एकरूप मान्यता के आग्रह में अनुरक्त हैं, उन्हें स्व-पर वैरी बतलाया है—'**एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु**'। वे एकान्त के पक्षपाति होने के कारण स्व-पर वैरी हैं। क्योंकि उनके मत में शुभ अशुभ, कर्म, लोक, परलोक आदि की व्यवस्था नहीं बन सकती। कारण वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। उसमें अनन्त धर्मगुणस्वरूप मौजूद हैं। वह उनमें से एक ही धर्म को मानता है– उसी का उसे पक्ष है, इसीलिये उसे

---

१ जीवसिद्धि विधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः सन्मतभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते॥ —हरिवंपुराण १–३०

२ "सत्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन बाध्यते॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां, सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥ —आप्तमीमांसा ६–७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्व-पर-वैरी कहा गया है। सापेक्ष और निरपेक्ष नयों का सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि निरपेक्ष नय मिथ्या और सापेक्ष नय सम्यक् हैं, और वस्तु तत्त्व की सिद्धि में सहायक होते हैं। इनसे ग्रन्थ की महत्ता का सहजही बोध हो जाता है। स्वामीजी ने लिखा है कि यह ग्रन्थ हिताभिलाषी भव्य जीवों के लिये सम्यक् और मिथ्या उपदेश के अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिये रचा गया है[1]।

इस महान् ग्रन्थ पर भट्टाकलंक देव ने 'अष्टशती' नाम का भाष्य लिखा है, जो आठसौ श्लोक प्रमाण है। और विद्यानंदाचार्य ने 'अष्टसहस्री' नाम की एक बड़ी टीका लिखी है जो आज भी गूढ है जिसके रहस्य को थोड़े व्यक्ति ही जानते हैं, जिसे 'देवागमालंकृति' तथा आप्तमीमांसालंकृति भी कहा जाता है। 'देवागमालंकृति' में आ. विद्यानन्द ने पूरी 'अष्टशती' को आत्मसात् कर लिया है। अष्टसहस्री पर एक संस्कृत टिप्पण भी है, और देवागम पर एक वृत्ति है जिसके कर्ता आचार्य वसुनन्दी हैं। पं. जयचन्द्रजी छावड़ाने देवागम की हिन्दी टीका लिखी है, जो अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला से प्रकाशित हो चुकी है।

स्वयंभूस्तोत्र—प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम स्वयंभूस्तोत्र या चतुर्विंशति जिनस्तुति है। जिस तरह स्तोत्रों के प्रारम्भिक शब्दानुसार 'कल्याणमन्दिर' एकीभाव, भक्तामर और सिद्धप्रिय का नाम रखने की परम्परा रूढ है, उसी तरह प्रारम्भिक शब्द की दृष्टि से स्वयंभूस्तोत्र भी सुघटित है, इसमें वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। दूसरों के उपदेश के बिना ही जिन्हों ने स्वयं मोक्षमार्ग को जानकर और उसका अनुष्ठान कर अनन्त चतुष्टय स्वरूप—अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यरूप—आत्म-विकास को प्राप्त किया है उन्हें स्वयंभू कहते हैं।[2] वृषभादि वीरपर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थंकर अनन्त चतुष्टयादि रूप आत्मविकास को प्राप्त हुए हैं। अतः वे स्वयम्भू पद के स्वामी हैं। अतएव यह स्वयम्भूस्तोत्र सार्थक संज्ञा को प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ समन्तभद्र भारती का एक प्रमुख अंग है। रचना अपूर्व और हृदयहारिणी है। यद्यपि यह ग्रन्थ स्तोत्र की पद्धति को लिए हुए है। स्तुतिपरक होने से ही यह ग्रन्थ भक्तियोग की प्रधानता को लिए हुए हैं। गुणानुराग को भक्ति कहते हैं। जब तक मानव का अहंकार नहीं मरता तब तक उसकी विकासभूमि तैयार नहीं होती। पहले से यदि कुछ विकास होता भी है तो वह अहंकार आते ही विनष्ट हो जाता है, कहा भी है—'किया कराया सब गया जब आया हुंकार।' इस लोकोक्ति के अनुसार वह दूषित हो जाता है। भक्तियोग से जहाँ अहंकार मरता है वहाँ विनय का विकास होता है, मृदुता उत्पन्न होती है। इसी कारण विकासमार्ग में सबसे प्रथम भक्तियोग को अपनाया गया है। आचार्य समन्तभद्र विकास को प्राप्त शुद्धात्माओं के प्रति कितने विनम्र और उनके गुणों में अनुरक्त थे, यह उनके स्तुति

---

१. इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छता।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ-विशेष प्रतिपत्तये॥ —देवागम ११४

२. "स्वयं परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्धय अनुष्ठाय वाऽनन्तचतुष्टयतया भवतीति स्वयंभूः।"
—प्रभाचन्द्राचार्यः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्रन्थों से स्पष्ट है। उन्होंने स्वयं स्तुतिविद्या में अपने विकास का प्रधान श्रेय भक्तियोग को दिया है। और भगवान जिनेन्द्र के स्तवन को भव-वन को भस्म करनेवाली अग्नि बतलाया है। और उनके स्मरण को दुख-समुद्र से पार करनेवाली नौका लिखा है। उनके भजन को लोह से पारसमणि को स्पर्श समान कहा है। विद्यमान गुणों की अल्पता का उल्लंघन करके उन्हें बढ़ा चढ़ा कर कहना लोक में स्तुति कही जाती है। किन्तु समन्तभद्राचार्य की स्तुति लोकस्तुति जैसी नहीं है। उसका रूप जिनेन्द्र के अनन्त-गुणों में से कुछ गुणों का अपनी शक्ति अनुसार आंशिक कीर्तन करना है।[1] जिनेन्द्र के पुण्यगुणों का स्मरण एवं कीर्तन आत्मा की पाप-परिणति को छुड़ा कर उसे पवित्र करता है। आत्मविकास में वह सहायक होता है।

यह कोरा स्तुतिग्रन्थ नहीं है किन्तु इसमें स्तुति के बहाने जैनागम का सार एवं तत्त्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है, टीकाकार प्रभाचन्द्र ने-' निःशेषजिनोक्तधर्मविषयः ' और ' स्तवोयमसमः ' विशेषणों द्वारा इस स्तवन को अद्वितीय बतलाया है। समन्तभद्र स्वामी का यह स्तोत्र ग्रन्थ अपूर्व है। उसमें निहित वस्तुतत्त्व स्वर-पर के विवेक कराने में सक्षम है।

यद्यपि पूजा स्तुति से जिन देव का कोई प्रयोजन नहीं है क्योंकि वे वीतराग हैं—राग-द्वेषादि से रहित हैं। अतः किसी की भक्ति पूजा से वे प्रसन्न नहीं होते किन्तु सच्चिदानन्दमय होने से वे सदा प्रसन्न स्वरूप हैं। निन्दा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं हैं क्योंकि वे वैर रहित हैं। तो भी उनके पुण्य-गुणों के स्मरण से पाप दूर भाग जाते हैं। और पूजक या स्तुतिकर्ता की आत्मा में पवित्रता का संचार हो जाता है[2]। स्वामीजी ने इसे और भी स्पष्ट किया है।

स्तुति के समय उस स्थान पर स्तुत्य चाहे मौजूद हो या न हो, फल की प्राप्ती भी चाहे सीधी होती हो या न होती हो, परन्तु आत्म-साधना में तत्पर साधु स्तोता की, विवेक के साथ भक्तिपूर्वक की गई स्तुति कुशल परिणाम की, पुण्यप्रसाधक पवित्र शुभ भावों की, कारण जरूर होती है। और वह कुशल परिणाम, श्रेय फल की दाता है। जब जगत में स्वाधीनता से श्रेयोमार्ग इतना सुलभ है, तब सर्वदा अभिपूज्य हे नमि जिन! ऐसा कौन विद्वान अथवा विवेकी जन है जो आपकी स्तुति न करें-अवश्य ही करेगा[3]। महावीर जिन स्तवन में स्याद्वाद को अनवद्य बतलाते हुए स्तवन को पूर्ण किया है:—

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः।
इतरो न स्याद्वादः स द्वितीय विरोधान्मुनीश्वराऽस्याद्वादः॥

---

१. याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या, लोकेस्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते।
अणिष्ठमर्घ्यं शमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन! त्वां किमिव स्तुयाम॥ युक्त्यनु० २

२. स्वयंभूस्तोत्र, ५७.

३. स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा,
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपिततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे,
स्तुयान्नत्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्॥११६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हे मुनीश्वर! 'स्यात्' शब्दपूर्वक कथन को लिये हुए आपका जो स्याद्वाद है, वह निर्दोष है, क्योंकि प्रत्यक्ष और आगमादि प्रमाणों के साथ उसका कोई विरोध नहीं है। दूसरा जो 'स्यात्' शब्द-पूर्वक कथन से रहित सर्वथा एकान्त वाद है वह निर्दोष नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और आगमादि प्रमाणों से विरुद्ध है।

इन चतुर्विंशति तीर्थंकरों के स्तवनों में गुणकीर्तनादि के साथ कुछ ऐसी बातों का अथवा घटनाओं का भी उल्लेख किया गया है जो इतिहास तथा पौराणिकता से सम्बन्ध रखती हैं। और स्वामी समन्तभद्र की लेखनी से प्रसूत होने के कारण उनका अपना खासा महत्व है। जब भगवान पार्श्वनाथ पर केवल ज्ञान होने से पूर्व सम्बर नामक ज्योतिषी देव ने उपसर्ग किया था और धरणेन्द्र पद्मावती ने उससे उनकी सुरक्षा का प्रयत्न किया था। तब भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। और वह संवर देव भी काल-लब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यक्त्व की विशुद्धता प्राप्त कर ली। स्तवन में भगवान पार्श्वनाथ के कैवल्य जीवन की उस महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया गया है। जब भगवान पार्श्वनाथ को विधूत कल्मष और शमोपदेश ईश्वर के रूप में देखकर वे वनवासी तपस्वी भी शरण में प्राप्त हुए थे, जो अपने श्रम को–पंचाग्नि साधनादिरूप प्रयास को विफल समझ गये थे, और भगवान पार्श्वनाथ जैसे विधूत कल्मष–घातिकर्म चतुष्टय रूप पाप से रहित–ईश्वर बनने की इच्छा रखते थे उन तपस्वियों की संख्या सातसौ बतलाई गई है।[1] स्तवन का वह पद्य इस प्रकार है—

यमीश्वरं वीक्ष्य विधूत-कल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रम-वन्ध्य-बुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥ ४ ॥

स्तुतिविद्या—इस ग्रन्थ का मूलनाम 'स्तुतिविद्या' है, जैसा कि प्रथम मंगल पद्य में प्रयुक्त हुए 'स्तुतिविद्यां प्रसाधये' प्रतिज्ञा वाक्य से ज्ञात होता है। यह शब्दालंकार प्रधान ग्रन्थ है। इसमें चित्रालंकार के अनेक रूपों को दिया गया है। उन्हें देखकर आचार्य महोदय के अगाध काव्यकौशल का सहज ही पता चल जाता है। इस ग्रन्थ के कविनाम गर्भचक्रवाले 'गत्वैकस्तुतमेव' ११६ वे पद्य के सातवें वलय में 'शान्तिवर्मकृतं' और चौथे वलय में 'जिनस्तुतिशतं' निकलता है। ग्रन्थ में कई तरह के चक्रवृत्त दिये हैं। स्वामी समन्तभद्र ने अपने इस ग्रन्थ को 'समस्तगुणगणोपेता' और 'सर्वालंकारभूषिता' बतलाया है। यह ग्रन्थ इतना गूढ़ है कि बिना संस्कृत टीका के लगाना प्रायः असंभव है। इसीसे टीकाकार ने 'योगिनामपि दुष्करा' विशेषण द्वारा योगियों के लिये भी दुर्गम बतलाया है। ग्रन्थ समन्तभद्र भारती का अंगरूप है। इसमें वृषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकरों की—अलंकृत भाषा में कलात्मक स्तुति की गई है इसका शब्दविन्यास अलंकार की विशेषता को लिये हुए है। कहीं श्लोक के एक चरण को उल्टा रख देने से दूसरा चरण बन जाता है। और पूर्वार्ध को उलटकर रख देने से उत्तरार्ध, और समूचे श्लोक को उलट कर रख देने से दूसरा श्लोक बन जाता है। ऐसा होने पर भी उनका अर्थ भिन्न भिन्न है। इस ग्रन्थ के

---

१ प्रापत्सम्यक्त्वशुद्धिं चं दृष्ट्वा तद्वनवासिनः।
तापसास्त्यक्तमिथ्यात्वाः शतानां सप्तसंयमम्॥ —उत्तर पुराण ७३, १४६

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेक पद्य ऐसे हैं जो एक से अधिक अलंकारों को लिये हुए हैं। कुछ पद्य ऐसे भी हैं जो दो दो अक्षरों से बने हैं—दो व्यंजनाक्षरों से ही जिन के शरीर की सृष्टि हुई है[1]। स्तुतिविद्या का १४ वां पद्य ऐसा है जिसका प्रत्येक पाद भिन्न प्रकार के एक एक अक्षर से बना है, यथा—

ये यायाययेयाय नानानूना ननानन।
ममा ममा ममा मामितातती तितती तितः॥

यह ग्रन्थ कितना महत्त्वपूर्ण है यह टीकाकार के—'घन-कठिन-घाति-कर्मेन्धनदहनसमर्था' वाक्य से जाना जाता है जिसमें घने एवं कठोर घातिया कर्मरूपी ईंधन को भस्म करनेवाली अग्नि बतलाया है।

इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य प्रथम पद्यमें 'आगसां जये' वाक्य द्वारा पापों को जीतना बतलाया है। वास्तव में पापों को कैसे जीता जाता है यह बड़ा रहस्य पूर्ण विषय है। इस विषय में यहां इतना लिखनाही पर्याप्त होगा कि ग्रन्थ में जिन तीर्थंकरों की स्तुति की गई है—वे सब पाप विजेता हुए हैं—उन्होंने काम, क्रोधादि पाप प्रकृतियों पर पूर्ण विजय प्राप्त की है, उनके चिंतन वंदन और आराधन से तदनुकूल वर्तन से अथवा पवित्र हृदय मन्दिर में विराजमान होने से पाप खड़े नहीं रह सकते। पापों के बन्धन उसी प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार चन्दन के वृक्ष पर मोर के आने से उससे लिपटे हुए भुजंगों (सर्पों) के बन्धन ढीले पड जाते हैं,[2] और वे अपने विजेता से घबराकर अन्यत्र भाग जाने की बात सोचने लगते हैं। अथवा उन पुण्य पुरुषों के ध्यानादिक से आत्मा का वह निष्पाप वीतराग शुद्ध स्वरूप सामने आ जाता है। उस शुद्ध स्वरूप के सामने आते ही आत्मा में अपनी उस भूली हुई निज निधि का स्मरण हो जाता है और उसकी प्राप्ति के लिये अनुराग जागृत हो जाता है, तब पाप परिणति सहज ही छूट जाती है अतः जिन पवित्र आत्माओं में वह शुद्ध स्वरूप पूर्णतः विकसित हुआ है उनकी उपासना पूजा करता हुआ भव्य जीव अपने में अपने उस शुद्ध स्वरूप को विकसित करने के लिये उसी तरह समर्थ होता है जिस तरह तैलादि विभूषित बत्ती दीपक की उपासना करती हुई उसमें तन्मय हो जाती है—स्वयं दीपक बनकर जगमगा उठती है। यह सब उस भक्तियोग का ही माहात्म्य है। भक्ति के दो रूप हैं सकामा और निष्कामा। सकामा भक्ति संसार के ऐहिक फलों की वांछा को लिये हुए होती है वह संसार तक ही सीमित रखती है। वर्तमान में उसमें कितना ही विकार आगया है, लोग उस भक्ति के मौलिक रहस्य को भूल गए हैं और जिनेन्द्र मुद्रा के समक्ष लौकिक एवं सांसारिक कार्यों की याचना करने लगे हैं। वहां भक्त जन भक्ति के गुणानुराग से च्युत होकर सांसारिक लौकिक कार्यों की प्राप्ति के लिये भक्ति करते देखे जाते हैं। किन्तु निष्काम भक्ति में किसी प्रकार की चाह या अभिलाषा नहीं होती, वह अत्यन्त विशुद्ध परिणामों की जनक है। उससे कर्मनिर्जरा होती है, और आत्मा उससे अपनी स्वात्मस्थिति को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। अतः निष्काम भक्ति भव समुद्र से पार उतरने में निमित्त होती है।

---

१. देखो ५१, ५२ और ५५ वां पद्य।

२. हृद्वर्तिनि त्वयि विभो! शिथिलीभवन्ति, जन्तोः क्षणेण निविड़ा अपि कर्मबन्धाः।
सद्यो भुजंगममया इव मध्यभागमभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य॥ —कल्याणमन्दिरस्तोत्र

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुभाशुभभावों, तरतमता और कषायादि परिणामों की तीव्रता-मन्दतादि के कारण कर्म प्रकृतियों में बराबर संक्रमण होता रहता है। जिस समय कर्म प्रकृतियों के उदय की प्रबलता होती है उस समय प्रायः उनके अनुरूप ही कार्य सम्पन्न होता है। फिर भी वीतरागदेव की उपासना के समय उनके पुण्य-गुणों का प्रेमपूर्वक स्मरण और चिन्तन द्वारा उनमें अनुराग बढ़ाने से शुभ परिणामों की उत्पत्ति होती है जिससे पाप परिणति छूट जाती है और पुण्य परिणति उसका स्थान लेलेती है, इससे पाप प्रकृतियों का रस सूख जाता है और पुण्य प्रकृतियों का रस बढ़ जाता है। पुण्य प्रकृतियों के रस में अभिवृद्धि होने से अन्तराय कर्म जो मूल पाप प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करती है—उन्हें होने नहीं देती—वह भग्न रस होकर निर्बल हो जाती है, फिर वह हमारे इष्ट कार्यों में बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं होती। तब हमारे लौकिक कार्य अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में उद्धृत निम्न पद्य से प्रकट है :—

"नेष्टं विहन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्पादिरिष्टार्थ कदाऽर्हदादेः॥"

इससे वीतराग देव की निर्दोष भक्ति अमित फल को देनेवाली है इसमें कोई बाधा नहीं आती।

युक्त्यनुशासन—इस ग्रन्थ का नाम युक्त्यनुशासन है। यह ६४ पद्यों की एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति है। यद्यपि आचार्य समन्तभद्र ने ग्रन्थ के आदि और अन्त के पद्यों में युक्त्यनुशासन का कोई नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु उनमें स्पष्ट रूप से वीर जिनस्तवन की प्रतिज्ञा और उसी की परिसमाप्ति का उल्लेख है।[1] इस कारण ग्रन्थ का प्रथम नाम वीरजिनस्तोत्र है।[1]

आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं ४८ वें पद्य में 'युक्त्यनुशासन' पद का प्रयोग कर उसकी सार्थकता प्रदर्शित की है, और बतलाया है कि युक्त्यनुशासन शास्त्र प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादक है। "—दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।" अथवा जो युक्ति प्रत्यक्ष और आगम के विरुद्ध नहीं है, उस वस्तु की व्यवस्था करने वाले शास्त्र का नाम युक्त्यनुशासन है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु तत्व का जो कथन प्रत्यक्ष और आगम से विरुद्ध है वह युक्त्यनुशासन नहीं हो सकता। साध्याविना भावी साधन से होने वाले साध्यार्थ का कथन युक्त्यनुशासन है।[2]

इस परिभाषा को वे उदाहरण द्वारा पुष्ट करते हुए कहते हैं कि वास्तव में वस्तु स्वरूप स्थिति, उत्पत्ति और विनाश इन तीनों को प्रति समय लिये हुए ही व्यवस्थित होता है। इस उदाहरण में जिस

---

१. 'स्तुति गोचरत्वं निनीषवःस्मो वयमद्यवीरं।' युक्त्यनुशासन १. 'स्तुतः शक्त्याश्रेयः पद्मधिगस्त्वं जिन! मया, महावीरो वीरोदुरित परसेनाऽभिविजय' ॥ ६४ ॥

२. 'अन्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयलक्षणात् साधनात्साध्यार्थ प्ररूपणं युक्त्यनुशासनमिति।' —युक्त्यनुशासन टीका पृ. १२२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तरह वस्तु तत्त्व उत्पादादि त्रयात्मक युक्ति द्वारा सिद्ध किया गया है उसी तरह वीर शासन में सम्पूर्ण अर्थ समूह प्रत्यक्ष और आगम अविरोधी युक्तियों से प्रसिद्ध है।[1]

पुन्नाट संघी जिनसेन ने हरिवंश पुराण में बतलाया है कि आचार्य समन्तभद्र ने जीवादि सिद्धि नामक ग्रन्थ बनाकर युक्त्यनुशासन की रचना की है।[2] चुनाचे टीकाकार आचार्य विद्यानन्द ने भी ग्रन्थ का नाम युक्त्यनुशासन बतलाया है।[3]

ग्रन्थ में दार्शनिक दृष्टि से जो वस्तुतत्त्व चर्चित हुआ है वह बड़ा ही गम्भीर और तात्त्विक है। इसमें स्तवन प्रणाली से ६४ पद्यों द्वारा स्वमत पर मत के गुणदोषों का निरूपण प्रबल युक्तियों द्वारा किया गया है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्त्व' हेतु से देवागम में आप्त की परीक्षा की है। जिनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोध रूप हैं उन्हें ही आप्त बतलाया है। और शेष का आप्त होना बाधित ठहराया है। और बतलाया है कि आपके शासनामृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त नहीं हैं किन्तु आप्ताभिमान से दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है[4]।

ग्रन्थ में भगवान महावीर की महानता को प्रदर्शित करते हुए बतलाया है कि—वे अतुलित शान्ति के साथ शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा को—चरमसीमा को—प्राप्त हुए है। और शान्तिसुखस्वरूप हैं—आप में ज्ञानावरण दर्शनावरणरूप कर्मफल के क्षय से अनुपम ज्ञानदर्शन का तथा अन्तराय कर्म के अभाव से अनन्तवीर्य का आविर्भाव हुआ है, और मोहनीय कर्म के विनाश से अनुपम सुख को प्राप्त हैं। आप ब्रह्म पथ के—मोक्षमार्ग के—नेता हैं, और महान् हैं। आपका मत—अनेकान्तात्मक शासन—दया, दम, त्याग और समाधि की निष्ठा को लिये हुए हैं—ओतप्रोत हैं। नयों और प्रमाणों द्वारा सम्यक वस्तुतत्त्व को सुनिश्चित करने वाला है, और सभी एकान्त वादियों द्वारा अबाध्य है। इस कारण वह

---

१. 'जीव सिद्धि विधापीह कृत युक्त्यनुशासनम्।'—हरिवंशपुराण.

२. जीयात् समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्।' (१)
'स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपते वीरस्य निःशेषतेः।
श्रीमद्वीरजिनेश्वरामलगुणस्तोत्रं परीक्षे क्षणैः।
साक्षात्स्वामि समन्तभद्र गुरुभिस्तत्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
प्रोक्ते युक्त्यनुशासनं विजयभिः स्याद्वादमार्गानुगैः॥"

३. युक्त्यनुशासन, प्रस्तावना पृ. २।

४. सत्वमेवासि निर्दोषो मुक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥
त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥ (देवागम द्वा. ६-७)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अद्वितीय है[1]। इतना ही नहीं किन्तु वीर के इस शासन को 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—जो सबके उदय उत्कर्ष एवं आत्मा के पूर्ण विकास में सहायक है, जिसे पाकर जीव संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। वही सर्वोदयतीर्थ है। जो सामान्य–विशेष, द्रव्य–पर्याय, विधि–निषेध और एकत्व–अनेकत्वादि सम्पूर्ण धर्मों को अपनाए हुए है— मुख्य-गौण की व्यवस्था से सुव्यवस्थित है, सब दुःखों का अन्त करने वाला है और अविनाशी है, वही सर्वोदयतीर्थ कहे जाने के योग्य है; क्योंकि उससे समस्त जीवों को भवसागर से तरने का समीचीन मार्ग मिलता है।

वीर के इस शासन की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इस शासन से यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मानव भी यदि समदृष्टि हुआ उपपत्ति–चक्षु से—मात्सर्य के त्यागपूर्वक समाधान की दृष्टि से वीर शासन का अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान शृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्त-रूप मिथ्या आग्रह छूट जाता है। वह अभद्र (मिथ्यादृष्टि) होता हुआ भी, सब ओर से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है जैसा कि उनके निम्न पद्य से प्रकट है:—

कामं द्विषन्नप्युपपत्ति चक्षुः समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमान–शृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

ग्रन्थ में सभी एकान्तवादियों के मत की युक्ति पूर्ण समीक्षा की गई है, किन्तु समीक्षा करते हुए भी उनके प्रति विद्वेष की रंचमात्र भी भावना नहीं रही, और न वीर भगवान के प्रति उनकी रागात्मिका प्रवृत्ति ही रही है।

ग्रन्थ में संवेदनाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, अद्वैतवाद, शून्यवाद आदि वादों का और चार्वाक के एकान्त सिद्धान्त का खण्डन करते हुए विधि, निषेध और वक्तव्यतादि रूप सप्तभंगों का विवेचन किया है, तथा मानस अहिंसा की परिपूर्णता के लिए विचारों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ सामंजस्य करनेवाले अनेकान्त दर्शन का मौलिक विचार किया गया है। साथ ही वीर शासन की महत्ता पर प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ निर्माण के उद्देश्य को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि हे वीर भगवन्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभाव से नहीं रचा गया, क्यों कि आपने भव–पाश को छेदन कर दिया है। और दूसरों के प्रति द्वेषभाव से भी नहीं रचा गया है; क्यों कि हम तो दुर्गुणों कि कथा के अभ्यास को खलता समझते हैं। उस प्रकार का अभ्यास न होने से वह खलता भी हम में नहीं है। तब फिर इस रचना का उद्देश्य क्या है? उद्देश्य यही है कि जो लोग न्याय–अन्याय को पहिचानना चाहते हैं और

---

१. त्वं शुद्धि–शक्त्योरूदयस्य काष्ठांतुला–व्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम्।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता, महानितीयत्प्रतिवक्तुमीशाः ॥५॥
दया–दम–त्याग–समाधिनिष्ठं नय–प्रमाण प्रकृताऽऽञ्जसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलै–प्रवादै–र्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकृत पदार्थ के गुणदोषों के जानने की जिनकी इंच्छा है उनके लिए यह स्तोत्र हितान्वेषण के उपाय स्वरूप आपकी गुणकथा के साथ कहा गया है। जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट हैं—

न रागान्तः स्तोत्रं भवति भव-पाश-च्छिदि सुनौ।
न चान्येषु द्वेषादपगुणकथाऽभ्यास-खलता॥
किमु न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुणदोषज्ञ-मनसां।
हितान्वेषोपायस्तव-गुण-कथा-सङ्ग-गदितः॥६३॥

इस तरह इस ग्रन्थ की महत्ता और गंभीरता का कुछ आभास मिल जाता है किन्तु ग्रन्थ का पूर्ण अध्ययन किये बिना उसका मर्म समझ में आना कठिन है।

समीचीन धर्मशास्त्र या रत्नकरण्ड श्रावकाचार

इस ग्रन्थ में श्रावकों को लक्ष्य करके समीचीन धर्म का उपदेश दिया गया है, जो कर्मों का विनाशक और संसारी जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में स्थापित करनेवाला है। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है—और दर्शनादिक की जो प्रतिकूल या विपरीत स्थिति है वह सम्यक् न होकर मिथ्या है अतएव अधर्म है और संसार परिभ्रमण का कारण है।

आचार्य समन्तभद्र ने इस उपाय का अध्ययन ग्रन्थ में श्रावकों के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य धर्म का, व्यवस्थित एवं हृदयग्राही वर्णन किया है, जो आत्मा को समुन्नत तथा स्वाधीन बनाने में समर्थ है। ग्रन्थ की भाषा प्राञ्जल, मधुर, प्रौढ और अर्थगौरव को लिए हुए है। यह धर्मरत्न ग्रन्थ का छोटासा पिटारा ही है। इस कारण इसका रत्नकरण्ड नाम सार्थक है। और समीचीन धर्म की देशना को लिए होने के कारण समीचीन धर्मशास्त्र भी है। इस ग्रन्थ का प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अध्ययन और मनन करना आवश्यक है। और तदनुकुल आचरण तो कल्याण कर्ता है ही।

समन्तभद्र से पहले श्रावक धर्म का इतना सुन्दर और व्यवस्थित वर्णन करने वाला कोई दूसरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। और पश्चात्वर्ती ग्रन्थकारों में भी इस तरह का कोई श्रावकाचार दृष्टिगोचर नहीं होता, और जो श्रावकाचार उपलब्ध हैं वे प्रायः उनके अनुकरण रूप हैं। यद्यपि परवर्ती विद्वानों द्वारा श्रावकाचार रचे अवश्य गए हैं पर वे इसके समकक्ष नहीं हैं। इस कारण यह सब श्रावकाचारों में अग्रणीय और प्राचीन हैं।

प्रस्तुत उपासकाध्ययन सात अध्यायों में विभक्त है, जिस की श्लोक संख्या देढसौ है। प्रत्येक अध्याय में दिये हुए वर्णन का संक्षिप्त सार इस प्रकार है।

प्रथम अध्याय में परमार्थभूत आप्त, आगम और तपोभृत का तीन मूढता रहित, अष्टमदहीन और आठ अंग सहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया है। इन सब के स्वरूप का कथन करते हुए बतलाया है कि अंगहीन सम्यग्दर्शन जन्म सन्तति का विनाश करने में समर्थ नहीं होता। शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय, आशा,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्नेह और लोभ से कुलिंगियों को प्रणाम और विनय भी नहीं करता। ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा सम्यग्दर्शन मुख्यतया उपासनीय है। सम्यग्दर्शन मोक्ष मार्ग में खेवटिया के समान है। उसके बिना ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय उसी तरह नहीं हो पाते जिस तरह बीज के अभाव में वृक्ष की उत्पत्ति आदि नहीं होती। समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन की महत्ता का जो उल्लेख किया है वह उसके गौरव का द्योतक है।

दूसरे अधिकार में सम्यग्ज्ञान का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उसके विषय चारों अनुयोगों का सामान्य कथन दिया है।

तीसरे अधिकार में सम्यक् चारित्र के धारण करने की पात्रता बतलाते हुए हिंसादि पाप प्रणालिकाओं से विरति को चारित्र बतलाया है। वह चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का है। सकल चारित्र मुनियों के और विकल चारित्र गृहस्थों के होता है, जो अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप है।

चतुर्थ अधिकार में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाणाव्रत इन तीन गुणव्रतों का, अनर्थ-दण्डव्रत के पांच भेदों का और पांच पांच अतिचारों का वर्णन किया है।

पांचवें अधिकार में ४ शिक्षाव्रतों और उनके अतिचारों का वर्णन किया गया है। सामायिक के समय गृहस्थ को चेलोपसृष्ट मुनि की उपमा दी है।

छठे अधिकार में सल्लेखना का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उसके पांच अतिचारों का कथन किया है।

सातवें अधिकार में श्रावक के उन ग्यारह पदों—प्रतिमाओं का स्वरूप दिया है। और बतलाया है कि उत्तरोत्तर प्रतिमाओं के गुण पूर्व पूर्व की प्रतिमाओं के सम्पूर्ण गुणों को लिये हुए है।

इस तरह इस ग्रन्थ में श्रावकों के अनुष्ठान करने योग्य समीचीन धर्म का विधिवत् कथन दिया हुआ है। यह ग्रन्थ भी समन्तभद्र भारती के अन्य ग्रन्थों के समान ही प्रामाणिक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org